दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष नववाँ
अंक सातवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

आश्विन
२४७९

'संतों ने मार्ग सुगम कर दिया'

अहो, कितना स्वतंत्र, सहज और सरल मार्ग! ...कि... जहाँ होऊँ वहाँ मैं ज्ञानस्वभाव हूँ... मैं अपने में एकाग्र होऊँ और मेरी मुक्ति हो... मेरी मुक्ति का मार्ग मुझमें ही है। ऐसा सरल और सहज मार्ग है। मेरा और अनंतानंत मुक्तिगामी जीवों का—सब का यह एक ही मार्ग है। जहाँ बैठा होऊँ वहाँ सदैव मैं ही हूँ; मैं ज्ञानस्वभाव ही हूँ; अपने स्वभाव में अंतर्मुख होकर स्थिर होऊँ वही मेरी मुक्ति का मार्ग है। इसके अतिरिक्त कहीं बाह्य में नहीं देखना पड़ता। कैसा स्वावलम्बी सरल और सहज मुक्तिमार्ग... !!! ऐसे सहज मुक्तिमार्ग पर स्वयं विचरनेवाले और जगत को वह पावन मार्ग बतलानेवाले, हे संतों! आपके पवित्र चरणकमलों में उल्लासभाव से नमस्कार हो!

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१०३

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

❀ सिद्धभगवान के आनंद का नमूना ❀

जिसने आत्मा के परम आनंदस्वरूप का माहात्म्य नहीं जाना, वही जीव पुण्य-पाप के विकारीभावों को अपना स्वरूप मानकर उनका उपभोग करता है। आत्मा में परम सुख भरा है- उसकी महिमा जानकर यदि उसका अनुभव करे तो विकारी भावों का स्वामित्व छूट जाता है।

अज्ञानी के शुभाशुभ भावों का ही स्वामित्व है, इसलिये ''राग-द्वेष ही मैं हूँ''—ऐसा राग-द्वेष का स्वामित्व उसके अभिप्राय में त्रिकाल बना है; इसलिये वह राग-द्वेष का ही उपभोग करता है, परन्तु राग-द्वेष रहित त्रिकाली स्वभाव आनंद से परिपूर्ण है, उसका वह किंचित्मात्र उपभोग नहीं करता।

ज्ञानी-धर्मात्मा को अपने नित्य आनंदस्वभाव का भान है और अंशत: उपभोग भी है। सिद्ध भगवान के आनंद के स्वाद का नमूना उन्होंने चख लिया है, परन्तु अभी सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई है, तबतक पुरुषार्थ की हीनता के कारण अल्प राग-द्वेष हो जाता है, परंतु उन्हें उसका स्वामित्व नहीं है। अन्तर में चिदानन्दी आत्मस्वभाव की रुचि और महिमा होने से सारे संसार का माहात्म्य उनके उड़ गया है। धर्मी को विकाररहित केवल शुद्धस्वभाव का ही प्रेम-आदर-उत्साह है; इसलिये उससे विरुद्ध किसी भी भाव के वे स्वामी नहीं होते। [—प्रवचन से]

सूचना

आत्मधर्म का ग्राहक बनने वाले बंधुओं को सूचित किया जाता है कि वे कार्तिक से चैत्र मास तक के चन्दे (१-८-०) का ही मनिआर्डर करें; क्योंकि आत्मधर्म के पिछले अंक स्टाक में नहीं हैं। यदि चाहें तो डेढ़ वर्ष का चंदा (४-८-०) भेज सकते हैं।

—व्यवस्थापक

आत्मधर्म

आश्विन : २४७९ ☆ वर्ष नववाँ ☆ अंक सातवाँ

जी... व... का... का... र्य....

किसी भी जीव को धर्म करने के लिये प्रथम यह समझना चाहिए कि ''मैं क्या कर सकता हूँ? क्या करने से मुझे अधर्म होता है और क्या करने से धर्म होता है?''—इस प्रवचन में पूज्य गुरुदेवश्री ने ''जीव का कार्य क्या है'' वह समझाकर, धर्मी और अधर्मी जीव के कार्य की पहिचान कराई है।

जीव क्या कार्य कर सकता है, और क्या नहीं कर सकता?

आत्मा क्या कार्य करे तो उसे धर्म हो और क्या कार्य करे तो अधर्म हो?—यह बात कही जा रही है। प्रथम तो किसी आत्मा में पर का कार्य करने की शक्ति नहीं है। आत्मा, पर का कुछ नहीं कर सकता; क्योंकि जड़ और चेतन समस्त तत्त्व अनादि-अनंत स्वयंसिद्ध अपनी-अपनी अवस्था में बदल रहे हैं। जगत में प्रत्येक रजकण की क्रिया स्वतंत्र अपनेआप हो रही है। कोई आत्मा, शरीर को न तो चला सकता है और न स्थिर रख सकता है; न वह भाषा बोल सकता है, न कर्म बाँध सकता है, न पर जीव को मार या बचा सकता है, न सुखी-दुःखी कर सकता है और न हानि-लाभ कर सकता है।—इसप्रकार जीव पर में कुछ भी नहीं कर सकता, मात्र अपनी अवस्था में ही शुभ-अशुभ या शुद्धभाव कर सकता है। ''जीव एक-दूसरे को सुखी-दुःखी करते हैं, शरीरादि की क्रिया मैं कर सकता हूँ''—ऐसा अज्ञानी ने अनादिकाल से माना है; परन्तु ऐसा हो नहीं सकता। पर को सुखी-दुःखी करने की शक्ति किसी में है ही नहीं।

प्रत्येक तत्त्व की स्वाधीनता

इस जगत में प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक रजकण स्वतंत्र भिन्न-भिन्न है; कोई तत्त्व एक-दूसरे पर प्रभाव नहीं डाल सकते। प्रत्येक आत्मा अपने स्वरूप के सद्भावरूप से तथा दूसरे अनंत आत्मा और जड़-पदार्थों के अभावरूप से स्थित है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व दूसरे अनंत पदार्थों के

अभाव से स्थित है। एक द्रव्य के स्वरूप के बाहर ही दूसरे द्रव्य लोट रहे हैं; कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य में प्रविष्ट नहीं हो सकता; इसलिये एक पदार्थ में अन्य अनंत तत्त्व कुछ भी करें—ऐसा तीनकाल में नहीं हो सकता। कोई ऐसा कहे कि—द्रव्य-गुण को तो कोई नहीं कर सकता परन्तु पर्याय कर सकता है, तो उसकी बात मिथ्या है। यह द्रव्य-गुण की बात नहीं है परन्तु पर्याय की ही बात है। जिस प्रकार त्रिकाली द्रव्य-गुण का कोई कर्ता नहीं है, उसी प्रकार उसकी पर्याय का भी कोई कर्ता नहीं है। वस्तु के द्रव्य-गुण तो त्रिकाल एकरूप हैं; इसलिये उसमें कुछ भी करना नहीं है; पर्यायें नवीन-नवीन होती हैं, वे पर्यायें त्रिकाल द्रव्य-गुण के आधार से होती हैं,—इसलिये उनका भी कोई दूसरा कर्ता नहीं है। निमित्तों के कारण नवीन-नवीन पर्यायें होती हैं—ऐसा अज्ञानी का भ्रम है। एक द्रव्य की वर्तमान पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय में कुछ भी करे, यह बात अज्ञानियों की मानी हुई है, वस्तुस्वरूप वैसा नहीं है।

अहो! मेरे कार्य का कर्ता कोई दूसरा नहीं है और दूसरे के कार्य का कर्ता मैं नहीं हूँ; अपने कार्य का कर्ता मैं, और पर के कार्य का कर्ता पर—ऐसी स्वाधीनता को समझे तो पर के कार्य करने का अभिमान छोड़कर जीव स्वोन्मुख हो और आत्मा की संभाल करे, इसलिये उसे धर्म हो! अज्ञानी जीव पर के विश्वास में अपने को भूल रहे हैं, उन्हें अपने स्वभाव का विश्वास और संतोष नहीं है, इसलिये किसी पर के कार्य करके संतोष लेना चाहते हैं; किन्तु पर में से कभी आत्मा की शांति नहीं आती; इसलिये वे जीव पर का कार्य करने की मिथ्या मान्यता से व्यर्थ ही आकुलित और दुःखी होते हैं। ज्ञानी तो पर से भिन्न निजस्वभाव को जानकर उसमें संतुष्ट हैं, इसलिये पर के कार्य करने का मिथ्याभिमान उन्हें नहीं होता, वे शांति के लिये अपने स्वभाव में एकाग्र होते हैं।

जड़ का कार्य; ज्ञानी का कार्य; अज्ञानी का कार्य

शरीरादि के समस्त रजकण अपनी स्वतंत्र योग्यता के सामर्थ्य से अपनी क्रिया कर रहे हैं, वह जड़ का कार्य है; आत्मा उनकी क्रिया नहीं करता।

अज्ञानी जीव अपने ज्ञाता वीतरागी स्वभाव को चूककर "यह जड़ की क्रिया मैं करता हूँ"—ऐसा मानकर अपने मिथ्यात्वभाव को उत्पन्न करता है;—यह अज्ञानी का कार्य है।

धर्मी-ज्ञानी जीव तो उस पर की क्रिया को मैं करता हूँ—ऐसा नहीं मानता, और क्षणिक रागादिभावों का कर्तृत्व भी स्वभावदृष्टि में स्वीकार नहीं करता, स्वभावदृष्टि से निर्मल पर्याय प्रगट होती है, उसका वह कर्ता है—यह ज्ञानी का कार्य है।

देखो, तीन प्रकार के कार्य हुए:—

(१) जड़ का कार्य, उसका कर्ता जड़ है; आत्मा उसका कर्ता नहीं है; इसलिये उससे तो आत्मा को धर्म नहीं होता और अधर्म भी नहीं होता।

(२) अज्ञानी जीव ज्ञानस्वभाव से च्युत होकर जड़ का और राग का कर्तृत्व मानकर अपने मिथ्यात्वभावरूपी कार्य को करता है, वह अधर्मकार्य है।

(३) ज्ञानी जीव अपने चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि से सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायरूप कार्य को करता है, वह धर्मकार्य है।

आत्मा, जड़ का या पर का कोई कार्य कर सकता है—यह मान्यता तो स्थूल अज्ञान है; यह मान्यता छूट जाने के पश्चात्, यहाँ तो उसके बाद की बात है। विकार मेरा कार्य और मैं उसका कर्ता—इस प्रकार जो विकार के साथ आत्मा का कर्ताकर्मपना स्वीकार करे, वह भी अज्ञानी है। आत्मा ज्ञायकमूर्ति निर्विकार है, वह विकार का कर्ता नहीं है—ऐसा समझाने के लिये यहाँ शुद्ध द्रव्यदृष्टि से उस विकार को आचार्यदेव ने पुद्गल का परिणाम कह दिया है, और वह आत्मा से अन्य है।

विकारभावों को आत्मा से अन्य क्यों कहा ?

आत्मा की अवस्था में जो रागद्वेषादि विकारीभाव होते हैं, वे कहीं रूपी नहीं हैं और वे अजीव में नहीं होते किन्तु आत्मा की ही अवस्था में होते हैं और अरूपी हैं, तथापि यहाँ द्रव्यदृष्टि में उन्हें आत्मा से अन्य वस्तु कहा है; क्योंकि आत्मा के शुद्धस्वभाव की अपेक्षा से वे विकारभाव भिन्न हैं, इसलिये वह अन्य वस्तु है। वे विकारभाव, आत्मा के आश्रय से नहीं होते किन्तु जड़ के लक्ष से होते हैं। धर्मात्मा की दृष्टि आत्मा के शुद्धस्वभाव पर है और उस स्वभाव में से विकारभाव नहीं आते; इसलिये धर्मी उनका कर्ता नहीं होता; इसलिये उन्हें जड़ पुद्गलपरिणाम कहकर आत्मा से अन्य वस्तु कहा गया है। परन्तु वे परिणाम कहीं पुद्गल में नहीं होते और कर्म भी नहीं कराता। आत्मा की पर्याय में वे करने से होते हैं, परन्तु यहाँ वह पर्यायबुद्धि छुड़ाकर शुद्धद्रव्य की दृष्टि कराने के लिये उन्हें आत्मा से अन्य कहा है। वास्तव में वे अन्य किसके लिये कहे जाते हैं ?—जो शुद्ध आत्मा की दृष्टि करे उसके लिये। अज्ञानी को तो विकार और आत्मस्वभाव भी भिन्नता का भान नहीं है, वह तो विकार और आत्मस्वभाव को एकमेक मानकर विकार का कर्ता होता है, इसलिये उसे विकार, आत्मा से अन्य नहीं रहा। ज्ञानी की दृष्टि विकार से भिन्न शुद्ध आत्मा पर है,

उस शुद्ध दृष्टि में ज्ञानी विकार का कर्ता नहीं होता, इसलिये उसे विकार, आत्मा से अन्य वस्तु है। इसप्रकार विकार को आत्मा से अन्य वस्तु कहकर आचार्यदेव ने शुद्ध आत्मद्रव्य की दृष्टि कराई है। ऐसी दृष्टि किए बिना कोई जीव ऐसा माने कि विकार आत्मा से अन्य है—तो उसे वस्तुस्वरूप का भान नहीं है।

अहो! चैतन्यपिण्ड आत्मा के आश्रय से तो शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अरागीभाव ही प्रगट हों, ऐसा उसका स्वभाव है; परन्तु अज्ञानी को उसकी रुचि नहीं है, इसलिये बाह्य की रुचि द्वारा वह अपनी अवस्था में विकारभाव प्रगट करता है और उनका वह कर्ता होता है; इसप्रकार अधर्मी जीव विकार का कर्ता होकर चौरासी के अवतार में परिभ्रमण कर रहा है। धर्मी जीव स्वभावदृष्टि के बल से अल्पकाल में विकार का सर्वथा अभाव करके सिद्ध होता है। सम्यग्दर्शन का विषय तो पुण्य-पाप से अन्य वस्तु है; जो पुण्य-पाप के विकारी वृत्तियाँ होती हैं, वह सम्यग्दर्शन के विषयभूत चैतन्य का स्वभाव नहीं है; इसलिये परमार्थतः वे विकारी वृत्तियाँ आत्मा से अन्य हैं।

आत्मा का सच्चा कर्तव्य

उपरोक्तानुसार अपने शुद्ध आत्मस्वभाव का भान होने से, विकार के साथ भी कर्ताकर्मपना छूटकर आत्मा निर्मल वीतरागी अवस्था का कर्ता हो, उसका नाम धर्मक्रिया है। ऐसी धर्मक्रिया के अतिरिक्त भगवान की पूजा-भक्ति आदि के शुभराग से या बाह्य क्रिया से आत्मा का कल्याण होना मान ले, उसे धर्म का भान नहीं है। बाह्य की क्रियाएँ तो जड़ से होती हैं, और शुभराग हो, वह विकार है; उस विकार का मैं कर्ता और वह मेरा कार्य—ऐसा जो माने, वह भी अधर्मी है। शुद्ध देव-गुरु-शास्त्रादि किसी भी पर की ओर का राग, वह विकार है; जो जीव उस राग की रुचि और उत्साह करके उसी को धर्म मान रहा है, किन्तु अपने शुद्ध आत्मा की रुचि और उत्साह नहीं करता, उसे आचार्य भगवान समझाते हैं कि अरे जीव! जड़ की क्रिया तो तुझसे पृथक् वस्तु है और पुण्य-पाप के भाव भी आत्मस्वभाव से अन्य वस्तु हैं; क्योंकि यदि वे अन्य न हों तो आत्मा में से वे दूर होकर कभी भी रागरहित सिद्धदशा नहीं हो सकती। सिद्धदशा में पुण्य-पाप के भाव नहीं होते, इसलिये वह आत्मा का सच्चा कर्तव्य नहीं है। आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में तन्मय होकर वीतरागभाव से परिणमित हो, वही उसका सच्चा कर्तव्य है, और वही धर्म है।

''जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि''

अज्ञानभाव से संसार में परिभ्रमण करते-करते जीव अनंतबार तीर्थंकर भगवान के समवशरण में भी गया और उनके धारावाही उपदेश का श्रवण किया; परन्तु बहादुर के बेटे ने अपनी मान्यता नहीं छोड़ी! संयोग क्या करे? बाह्य में साक्षात् भगवान का संयोग होने पर भी अज्ञानी के अंतर से पुण्य की रुचि और उसकी कर्तृत्वबुद्धि दूर नहीं हुई और आत्मा के स्वभाव की रुचि नहीं हुई; इसलिये अपनी विपरीत दृष्टि से विकार की उत्पत्ति हुई और संसार में परिभ्रमण किया। 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' सृष्टि अर्थात् पर्याय की उत्पत्ति; जैसी दृष्टि हो, वैसी पर्याय की उत्पत्ति होती है। चाहे जैसे संयोगों में विद्यमान हो परन्तु उस समय जीव की दृष्टि कहाँ पड़ी है, वह देखना चाहिये। यदि अपने शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि हो तो पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धता की उत्पत्ति होती है और यदि विकार पर तथा संयोग पर दृष्टि हो तो पर्याय में मिथ्यात्वादि विकार की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार 'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' अर्थात् जैसी दृष्टि हो, वैसा कार्य होता रहता है।

किसकी शरण.... ?

विकाररहित अखण्ड चैतन्यस्वभाव है, वही शरणभूत है; उसका जिसे भान नहीं है और मैं विकार का कर्ता हूँ, विकार ही मैं हूँ—ऐसी विकारी की बुद्धि है, उसे वह विकारबुद्धि छुड़ाने के लिये और स्वभावदृष्टि कराने के लिये कहते हैं कि हे भाई! तू क्षणिक विकार के कर्ता-कर्म की बुद्धि छोड़; तेरा स्वभाव क्षणिक विकार जितना नहीं है। प्रथम अपने यथार्थ वस्तुस्वभाव को ख्याल में लेना चाहिए, उसकी रुचि और विश्वास करना चाहिए; उसी की शरण से धर्म होता है। जिसकी शरण लेने से धर्म होता है, उस वस्तु के भान बिना ज्ञान को कहाँ स्थिर करेगा? और किसकी शरण लेकर धर्म करेगा?

स्वभाव की मुख्यता ही धर्मी का धर्मकर्तव्य है

शरणभूत चैतन्यस्वभाव का भान होने के पश्चात् साधकदशा में धर्मी को भी पुण्य-पाप के भावों की उत्पत्ति होती है, परन्तु उसे उनकी मुख्यता भासित नहीं होती; स्वभाव की मुख्यता की दृष्टि में विकार का अभाव ही भासित होता है। यदि स्वभावोन्मुखता की मुख्यता हटकर राग की मुख्यता हो जाये तो साधकदशा नहीं रहती। जिसे एक समय भी स्वभावोन्मुखता की मुख्यता हटकर विकार की मुख्यता हो, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। शुभराग की उत्पत्ति के समय यदि उस राग

की ही मुख्यता भासित हो और स्वभाव की मुख्यता न भासे तो उसे स्वभाव से अन्य वस्तु की अर्थात् जड़कर्म की उत्पत्ति होती है परन्तु धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। धर्मी जीव की दृष्टि में त्रिकाली शुद्धस्वभाव की ही सदैव मुख्यता हे, और वही सम्यग्दर्शन है। स्वभाव की मुख्यता में उसे प्रतिक्षण निर्मलदशा की उत्पत्ति होती है, वह धर्मी का धर्मकर्तव्य है। छह खण्ड का राज्य और छियानवे हजार रानियों के संयोग में विद्यमान सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती को अन्तर्दृष्टि में से स्वभाव की मुख्यता एक क्षण भी नहीं हटती और विकार की मुख्यता नहीं होती। अहो! धर्मी को पर्याय-पर्याय में सदैव स्वभाव की ही अधिकता है; उसी की महत्ता है; उसी का आदर है; किसी भी पर्याय के समय दृष्टि में से 'मैं शुद्ध स्वभाव हूँ'—ऐसी वृत्ति दूर नहीं होती; इसलिये प्रतिसमय उसे निर्मल पर्याय की उत्पत्तिरूप धर्म होता है। इसप्रकार त्रिकाल शुद्धस्वभाव और क्षणिक विकार—इन दोनों को पृथक् जानकर स्वभाव की मुख्यता करके उस ओर ढलने का नाम भेदविज्ञान है और ऐसे भेदविज्ञान से ही धर्म होता है।

सत्यस्वभाव का आदर और उसका फल

मैं क्षणिक राग जितना नहीं हूँ, परन्तु रागरहित ज्ञातास्वरूप हूँ—ऐसी वृत्ति में स्वसन्मुखदृष्टि होने से विकार की मुख्यता भासित न हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। प्रथम पात्र होकर अंतरंग-स्वीकृतिपूर्वक इस बात का बारम्बार श्रवण करना चाहिए। हे जीव! सत्समागम से सत्य का श्रवण करके एक बार यथार्थ रुचि से स्वीकार कर। समझपूर्वक सत्स्वभाव की 'हाँ' कहते रहने से उसकी 'लत' लगेगी, इसलिये 'हाँ में से हालत' हो जायेगी। जैसा अपना पूर्ण स्वभाव है, उसकी रुचि करके हाँ कहने से वैसी ही पूर्ण निर्मल हालत प्रगट हो जायेगी। सत्यस्वभाव की हाँ कहकर उसका आदर करते-करते सिद्धदशा हो जायेगी। जीव को जहाँ आदरबुद्धि हो, उस ओर उसका प्रयत्न बारम्बार उन्मुख होता ही रहता है। जिसने स्वभाव का स्वीकार करके उसका आदर किया, उसके श्रद्धा-ज्ञानादि का पुरुषार्थ स्वभावोन्मुख होकर अल्पकाल में सिद्धदशा हुए बिना नहीं रहेगी। जिसने सत्यस्वभाव का अस्वीकार करके उसका अनादर किया और विकार का आदर किया, वह जीव नरक-निगोद की महा मलिन दशा को प्राप्त होगा। आत्मस्वभाव की आराधना का फल सिद्धदशा है और उसकी विराधना का फल निगोददशा है। बीच की चार गतियों का काल अत्यल्प है। अहो! सत्यवस्तुस्वभाव को लक्ष में लेकर रुचिपूर्वक उसका स्वीकार करने में भी अपूर्व पात्रता है, और उसके फल में सादि-अनंतकाल तक सिद्धदशा के अपूर्व सुख की प्राप्ति होती है।

अज्ञानी की कर्ता-कर्म की मिथ्याप्रवृत्ति

जीव का एकरूप ज्ञायकस्वभाव है; उसमें क्रोधादि की वृत्ति नहीं है। क्रोधादि अशुभभाव या दयादि शुभभाव, वे दोनों आस्रव हैं; जीव के स्वभाव से भिन्न हैं। मैं शरीरादि जड़ की क्रिया का कर्ता हूँ—ऐसी बुद्धि तो अत्यन्त स्थूल अज्ञान हैं; परन्तु मैं क्रोधादि विकार का कर्ता और वह क्रोधादि मेरा कार्य, इसप्रकार विकार के कर्ता-कर्मपने की बुद्धि भी अज्ञान से ही उत्पन्न होती है। अज्ञानी को ऐसी कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति अनादि से चली आती है, वही अधर्म और संसार का मूल है। वह कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति कब दूर होती है, यह बात यहाँ आचार्यदेव ने समझाई है। चैतन्यमूर्ति आत्मा को और क्रोधादिक भावों को निश्चय से एक-वस्तुपना नहीं है; दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है।—इसप्रकार जब जीव अपने आत्मा को आस्रवों से भिन्न जानकर भेदज्ञान करता है, तब अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति छूट जाती है। विकार को अपने स्वभाव से भिन्न जानकर जहाँ स्वभावोन्मुख हुआ, वहाँ विकार के साथ कर्ताकर्मपना कहाँ से रहे ?

यहाँ तो आचार्यदेव ने क्रोधादि भावों को आत्मा से भिन्न वस्तु कहा है। आत्मा के स्वभाव के आश्रय से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, उसमें क्रोधादि भावों की नास्ति है। क्रोध त्रिकाली द्रव्यरूप वस्तु नहीं है परन्तु क्षणिक पर्यायरूप वस्तु है। पहले जब आत्मा के स्वभाव की अरुचि थी, तब जीव क्रोधादि भावों का कर्ता होता था; शुद्धस्वभाव का भान होने के पश्चात् जीव क्रोधादि भावों का कर्ता नहीं होता। यह तो अंतरदृष्टि की गंभीर बात है। बाह्य की क्रिया अथवा मात्र राग की मंदता पर से ऐसी दृष्टि का माप नहीं निकल सकता।

विकार के ग्रहण-त्याग से भी निरपेक्ष आत्मस्वभाव

आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति अनाकुल सुखस्वरूप है, और क्रोधादिक आस्रव तो आकुलतारूप है; इसप्रकार दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न होने से आस्रव, आत्मा से भिन्न हैं।—इसप्रकार जानकर आत्मा के स्वभाव की ओर ढलने से आस्रवों का निषेध हो जाता है। वास्तव में विकार का भी नाश नहीं करना पड़ता, परन्तु जहाँ आत्मा अपने स्वभाव की ओर उन्मुख हुआ, वहाँ विकार की उत्पत्ति ही नहीं होती; इसलिये आत्मा ने विकार का नाश किया - ऐसा कहा जाता है। प्रत्येक आत्मा में 'त्यागोपादानशून्यत्व' नाम की शक्ति है, इसलिये आत्मा स्वभाव से विकार का ग्रहण-त्याग नहीं करता। आत्मा पर के ग्रहण या त्याग से रहित है और वास्तव में विकार का भी ग्रहण या त्याग उसके स्वभाव में नहीं है। स्वभाव में विकार हो तो छोड़े न ?

शुद्धस्वभावदृष्टि से आत्मा में विकार है ही नहीं; इसलिये स्वभावदृष्टि में आत्मा, विकार का कर्ता नहीं है और उसका त्याग करनेवाला भी नहीं है। मैं विकार का कर्ता हूँ—ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह तो मिथ्यादृष्टि है ही, और मैं विकार को छोड़ूँ—ऐसी जिसकी बुद्धि है, वह भी पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। 'मैं विकार को छोड़ूँ'—ऐसे लक्ष से विकार नहीं छूटता परन्तु उसकी उत्पत्ति होती है; तथापि जो उसे विकार दूर करने का उपाय मानता है, वह जीव पर्यायबुद्धि है; विकाररहित स्वभाव के लक्ष में नहीं आया है। विकार को छोड़ने पर जिसका जोर है, वह जीव विकार का स्वामी होता है। ज्ञानी तो स्वभाव का स्वामी होकर स्वोन्मुखतारूप परिणमन करता है, वहाँ उसे विकार की उत्पत्ति ही नहीं होती। शास्त्र में ऐसे उपदेश-वचन आते हैं कि ''विकार को छोड़ो!'' परन्तु विकार कैसे छूटता है?—स्वभावसन्मुख हो तो छूटता है। विकार की ओर देखता रहे तो उससे कहीं विकार दूर नहीं होता। ''चैतन्यस्वभाव है, वही मैं हूँ'' और ''राग मैं नहीं हूँ''—इसप्रकार ज्ञान द्वारा भेद करके, ज्ञान को स्वभाव की ओर अन्तर्मुख करके परिणमित होने से विकार रहित शुद्धदशा हो जाती है।—ऐसा कार्य करने का नाम धर्म है, और वही मुक्ति का उपाय है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी कार्य से धर्म या मुक्ति नहीं होती।

धर्मी जीव की स्व-परप्रकाशक शक्ति

स्वभाव की दृष्टि को मुख्य रखकर धर्मी जीव, राग को भी जानता है, परन्तु वहाँ ''राग है सो मैं हूँ''—इसप्रकार वह राग का कर्ता नहीं होता। राग के सन्मुख दृष्टि रखकर राग को नहीं जानता परन्तु स्वभावोन्मुख दृष्टि रखकर राग को जान लेता है; राग को स्वभावरूप से नहीं जानता परन्तु स्वभाव से भिन्नरूप जानता है।—ऐसी धर्मी जीव की स्व-परप्रकाशकशक्ति है। स्वभावोन्मुख होने से स्व को और विकार को तथा पर को जान ले, ऐसी स्व-परप्रकाशक ज्ञाताशक्ति प्रगट होती है।

देखो, इसमें अनेक न्याय आ जाते हैं। स्वसन्मुख होने से जो स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित हुआ, वह ज्ञान स्व को जानते हुए परनिमित्तों को भी जानता है; सम्यग्ज्ञान प्रगट होने में कैसे देव-गुरु-शास्त्र निमित्त थे, उन्हें भी वह ज्ञान बराबर जानता है। देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप में भी जिसके गड़बड़ी हो, उसके स्व-पर प्रकाशक ज्ञान ही विकसित नहीं हुआ है। जिसके स्व-परप्रकाशक ज्ञान विकसित हो उसे, उस ज्ञान में निमित्तरूप सच्चे देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं, उसका भी बराबर भान होता है। श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव कहते हैं कि :—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन, येन वार्ताऽपि हि श्रुताः।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भावि निर्वाणभाजनम्॥

—जिस जीव ने चैतन्यस्वभाव की प्रीतिपूर्वक उसकी बात भी सुनी है, वह जीव अवश्य ही भविष्य में होनेवाली मुक्ति का भाजन है। यहाँ 'श्रुताः' अर्थात् सुनना कहा है; उसमें सामने सुनानेवाले निमित्त कैसे होते हैं, उसे पहिचानने का उत्तरदायित्व भी साथ ही आ जाता है। कुगुरु आदि चाहे जिसके निकट से सुनकर सम्यग्ज्ञान हो जाये—ऐसा नहीं है। जहाँ स्वयं पात्र होकर जागृत हुआ और अपूर्व भान प्रगट हुआ, वहाँ सामने कौन सा निमितत था, कैसे देव-गुरु-शास्त्र निमित्तरूप से हो सकते हैं, उसका भी यथार्थ भान हुए बिना नहीं रहता। सम्यग्ज्ञान का ऐसा स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य है।

प्रत्येक जीव को करने योग्य सच्चा कार्य

देखो भाई! पूर्व अनंतानंतकाल में जीव कभी एक क्षण भी नहीं समझा—ऐसी यह सूक्ष्म बात है। अपना अपूर्व कल्याण करने के लिये यह बात समझने जैसी है। यह बात समझे बिना भव से उद्धार नहीं हो सकता। प्रत्येक जीव में यह समझने की शक्ति भरी है। अहो! जितना सामर्थ्य सिद्ध भगवान में है, उतना ही परिपूर्ण सामर्थ्य मेरे आत्मा में भी भरा है; मेरा आत्मा भी सिद्ध भगवान जैसा है; इसप्रकार अपने सामर्थ्य का विश्वास और उल्लास लाकर उत्साहपूर्वक श्रवण-मनन करना चाहिए। ''मेरी समझ में नहीं आयेगा''—ऐसी दुर्बल मान्यता छोड़ देना चाहिए। श्री आचार्यभगवान ने समयसार की प्रथम गाथा में ही आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है कि मैं सिद्ध हूँ और तू (श्रोता) भी सिद्ध है; हम क्षणिक विकार को लक्ष में मुख्य न करके तेरे ज्ञान में तेरे आत्मा के सिद्धत्व की स्थापना करते हैं। इसलिये तू भी अपने ज्ञान में यह बात जमाकर पहली ही बार सिद्धत्व का स्वीकार कर; पूर्णता के लक्ष से अपने पुरुषार्थ को आगे बढ़ा! जिसने अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके पूर्णता के लक्ष से प्रारम्भ किया, उसे अल्पकाल में पूर्ण सिद्धदशा प्रगट हुए बिना नहीं रहेगी। इसलिये अपने परिपूर्ण स्वभावसामर्थ्य को पहिचानकर उसकी प्रतीति करना ही प्रत्येक जीव को करनेयोग्य प्रथम कार्य है।—इसप्रकार जीव का सच्चा कार्य बतलाया।

[श्री समयसार गाथा ७१ के प्रवचन से]

जीव का कल्याण क्यों न हुआ ?

[श्रीगुरु कल्याण का सच्चा उपाय समझाते हैं]

इस शरीर का संयोग तो क्षणिक है; यह जीव के साथ सदैव रहनेवाला नहीं है। जीव ज्ञानस्वरूपी त्रिकालस्थायी है; वह शरीर से भिन्न है। अज्ञानी जीव अपने ज्ञानस्वरूपी आत्मा को भूलकर अपने को शरीर जितना ही मानते हैं, इसलिये नये-नये शरीर धारण करके अनादिकाल से भव-भ्रमण में भटक रहे हैं। अहो! चौरासी के अवतार में भटकते हुए जीव ने दूसरा तो सबकुछ किया परन्तु एक अपने शुद्ध आत्मा का भान कभी नहीं किया। यह दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके यही करने योग्य है।

देखो, श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि:—

यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास लियो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो॥

❀ ❀ ❀

सब शास्त्रन के नय धारि दिये,
मत मंडन खंडन भेद लिये,
वह साधन बार अनंत कियो,
तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो;
अब क्यों विचारत है मन सें,
कछु और रहा उन साधन सें।

''मैं चैतन्यतत्त्व हूँ''—ऐसे अनुभव बिना अनंतकाल से पंच महाव्रत, भगवान की भक्ति, दान, शास्त्राभ्यास, बाह्य त्याग इत्यादि कर-करके भी जीव ने संसार में ही परिभ्रमण किया है; किन्तु अंतर में चिदानन्दी भगवान आत्मा कौन है, उसका एक क्षण भी उसने भान नहीं किया। ऐसे भान के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बिना भवभ्रमण दूर नहीं होता।

जीव को सम्यग्दर्शन की महिमा मालूम नहीं है। अनादि काल में सम्यग्दर्शन के बिना

कठिन नियम लिये; बाह्यत्याग किया; इन्द्रियदमन किया; व्रत-तप किए; शास्त्र पढ़े; परन्तु अंतर में अखण्ड चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख होकर एकाग्र नहीं हुआ। जीव को दिशा भ्रम हो गया है, इसलिये अंतर की दिशा नहीं सूझ रही है और बाह्य में कल्याण के उपाय कर रहा है; परन्तु बाह्य उपायों से कभी कल्याण नहीं होता।

आत्मा को लक्ष में लिये बिना पर से और पुण्य से लाभ मानकर जीव उसमें अटक रहा है। महान राजपाट छोड़कर अथाग त्याग और मंद कषाय करके उसमें कृतकृत्यता मान ली; मौन रहकर उसमें धर्म मान लिया; पहाड़ की गुफा में जाकर घंटों तक दृढ़ पद्मासन लगाकर बैठा रहा; परन्तु जिसका ध्यान करना है, उसे तो पहिचानता नहीं है; इसलिये शुभराग में एकाग्र होकर उसी को धर्म मान लिया। इसप्रकार अपनी कल्पना से जीव ने अनेक उपाय किये, परन्तु अभीतक उसका किंचित् भी कल्याण नहीं हुआ। इसलिये ज्ञानी करुणापूर्वक कहते हैं कि अरे जीव! अब तू विचार तो कर कि अभी तक इतने-इतने उपाय करने पर भी कुछ हाथ नहीं आया, तो कल्याण का सच्चा उपाय कुछ दूसरा ही मालूम होता है। मैंने अभीतक जो-जो उपाय किये हैं, वे सब उपाय मिथ्या हैं और सच्चा उपाय उनसे भिन्न प्रकार का है।—ऐसा विचार करके गुरुगम से सच्चे उपाय की पहिचान कर।

विकार को और जड़ की क्रिया को आत्मा के धर्म का साधन मानकर अनादि से उसका सेवन किया, परन्तु उससे आत्मा का कुछ भी कल्याण नहीं हुआ। अज्ञानी जीव ने अंतर के चैतन्यभगवान को भूलकर बाहर के भगवान की भक्ति की और अनेक उपवासादि करके तपश्चरण किया; घरबार के प्रति उदासीनता धारण की और जंगल में जाकर बैठा।—इसप्रकार परलक्ष से सब कुछ किया, परन्तु उन सबसे पृथक् आत्मा स्वयं कौन है, उसकी प्रतीति नहीं की। शास्त्र पढ़े और खण्डन-मण्डन किया;—ऐसे-ऐसे साधन जीव ने अनंतबार किये, उनमें धर्म माना, तथापि अभी तक उसके भवभ्रमण का अन्त नहीं आया; क्योंकि मूलभूत साधन बाकी रह गया है; सच्चा साधन क्या है, उसकी जीव को खबर नहीं है। इसलिये श्रीगुरु कहते हैं कि अरे प्रभु! तू अब अंतर में क्यों विचार नहीं करता कि उन सबसे भिन्न दूसरा कौन-सा साधन बाकी रह गया है? हे भाई! तू विचार तो कर कि कल्याण क्यों नहीं हुआ? कल्याण का मूलभूत साधन सद्गुरु के बिना अपने स्वच्छन्द से समझ में नहीं आ सकता। शुद्ध आत्मा के सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना ही जीव का कल्याण नहीं हुआ।

अरे आत्मा! तेरी चैतन्यजाति सब से भिन्न है; पुण्य-पाप तेरा स्वरूप नहीं है; शरीर की क्रियाओं का प्रवर्तन भी तेरा नहीं है; तू तो ज्ञाता चैतन्यमूर्ति है। अंतर में ऐसे चैतन्य की मुख्यता ही सच्चा साधन है; सद्गुरुगम के बिना वह समझ में नहीं आ सकता।

चैतन्यतत्त्व अंतर में है, उसे भूलकर जगत के जीवों ने बाह्य में बहुत दौड़धूप की। धर्म तो अंतर में आत्मस्वभाव के आधार से होता है—उसके भान बिना पुण्य-पाप में धर्म मानकर बाह्य में दौड़ादौड़ी की; परन्तु अंतर के चैतन्य की जगमगाहट कहीं बाह्य की दौड़धूप से विकसित हो सकती है? अपने आत्मधर्म को विकसित करने के लिये हे जीव! तू शांत हो, शांत होकर गुरुगम को साथ लेकर अंतर में उतर! अनंतकाल से अपना चैतन्यतत्त्व तेरे ख्याल में नहीं आया है और तूने बाह्य में दौड़ादौड़ी की है; परन्तु बाह्य में तेरे कल्याण का पंथ नहीं है। शुद्धात्मा की प्रीतिपूर्वक अपूर्व विचार करने से अंतर में समीप ही कल्याण है—कल्याण का पंथ अंतर में है; अपने कल्याण का पंथ अपने से दूर नहीं है; परन्तु गुरुगम से सच्ची समझ करके चैतन्य में प्रीति लगाना चाहिए। अपनी स्वभाव-जाति को जानने का सच्चा प्रयत्न जीव ने एक समय भी नहीं किया है; आत्मा के स्वभाव का सच्चा मार्ग छोड़कर, विपरीत मार्ग पर ही दौड़ा है और इसीलिये संसार में भटकता है। अनादि से जो कभी नहीं किया है, ऐसा सच्चा उपाय ज्ञानी समझाते हैं। भाई! तू मार्ग भूल रहा है! तूने अपने कल्याण का उपाय बाहर माना है परन्तु कल्याण का मार्ग अंतर में है। तेरे स्वभाव के आश्रित ही तेरी मुक्ति का मार्ग है। ऐसे सच्चे मार्ग को प्रथम जानकर उससे विपरीत मार्गों की कल्पना छोड़ दे तो उस अंतर के मार्ग से तेरा कल्याण होगा और तेरे भवभ्रमण का अन्त आयेगा।

[—प्रवचन से]

''लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका''

यह एक अत्यावश्यक, स्वाध्याय तथा प्रचार योग्य तत्त्वज्ञान प्रवेशिका है। मुमुक्षुजन अवश्य स्वाध्याय करें!

एक प्रति का मूल्य ०-४-६

२० प्रतियों से अधिक मंगाने पर २५) प्रतिशत कमीशन दिया जायेगा।

जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

''बाह्य सामग्री पूर्व के पुण्य-पाप-कर्मों का फल है''

आत्मधर्म अंक १०१ में 'बाह्य सामग्री पूर्व के पुण्य-पापकर्मों का फल है'—इस विषय के लेख में षट्खण्डागम भाग ६, पृष्ठ ३६ का जो अवतरण दिया है, उस अवतरण का पूरा भाग इस प्रकार है:—

''सादं सुहं, तं वेदावेदि भुंजावेदि त्ति सादावेदणीयं। असादं दुक्खं, तं वेदावेदि भुंजावेदि त्ति असादावेदणीयं। एत्थ चोदओ भणदि—जदि सुह—दुक्खाइं कम्मेहिंतो होंति, तो कम्मेसु विणट्ठेसु सुह-दुक्खवज्जएण जीवेण होदव्वं, सुह-दुक्खणिवबंधणकम्माभावा। सुह-दुक्खविवज्जिओ चेव होदि त्ति चे ण, जीवदव्वस्स णिस्सहावत्तादो अभावप्पसंगा। अह जइ दुक्खमेव कम्मजणियं, ता सादावेदणीयकम्माभावो होज्ज, तस्स फलाभावादो त्ति ?

एत्थ परिहारो उच्चदे। तं जहा—जं किं पि दुक्खं णाम तं असादावेदणीयादो होदि, तस्स जीवसरूवत्ताभावा। भावे वा खीणकम्माणं पि दुक्खेण होदव्वं, णाण-दंसणाणमिव कम्मविणासे विणासाभावा। सुहं पुण ण कम्मादो उप्पज्जदि, तस्स जीवसहावत्तादो फलाभावा। ण सादावेदणीयाभावो वि, दुक्खुवसमहेउसुदव्वसंपादणे तस्स वावारादो। एवं संते सादावेदणीयस्स पोग्गलविवाइत्तं होइ त्ति णासंकणिज्जं, दुक्खुवसमेणुप्पण्ण सुवत्थियकणस्स दुक्खाविणाभाविस्स उवयारेणेव लद्धसुहसण्णस्स जीवादो अपुधभूदस्स हेतुत्तणेण सुत्ते तस्स जीवविवाइत्तसुहहेदुत्ताण-मुवदेसादो। तो वि जीव-पोग्गलविवाइत्तं सादावेदणीयस्स पावेदि त्ति चे ण, इट्ठत्तादो। तहोवएसो णत्थि त्ति चे ण, जीवस्स अत्थित्तण्ण हाणुववत्तीदो तहोवदेसत्थित्तसिद्धीए। ण च सुहदुक्खहेउ-दव्वसंपादयमण्णं कम्ममत्थि त्ति अणुवलंभादो।''

❀❀❀

[हिंदी अर्थ]

''साता यह नाम सुख का है, उस सुख को जो वेदन कराता है अर्थात् भोग कराता है, वह सातावेदनीय कर्म है। असाता नाम दु:ख का है, उसे जो वेदन या अनुभवन कराता है उसे असातावेदनीय कर्म कहते हैं।

शंका—यहाँ पर शंकाकार कहता है कि यदि सुख और दु:ख कर्मों से होते हैं तो कर्मों के

विनष्ट हो जाने पर जीव को सुख और दु:ख से रहित हो जाना चाहिये, क्योंकि उसके सुख और दु:ख के कारणभूत कर्मों का अभाव हो गया है। यदि कहा जाय कि कर्मों के नष्ट हावे जाने पर जीव सुख से और दु:ख से रहित ही हो जाता है, सो कह नहीं सकते, क्योंकि जीवद्रव्य के नि:स्वभाव हो जाने से अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। अथवा, यदि दु:ख को ही कर्मजनित माना जाय तो सातावेदनीयकर्म का अभाव प्राप्त होगा, क्योंकि, फिर उसका कोई फल नहीं रहता है ?

समाधान—यहाँ पर उपर्युक्त आशंका का परिहार करते हैं। वह इस प्रकार है—दु:ख नाम की जो कोई भी वस्तु है, वह असातावेदनीय कर्म के उदय से होती है, क्योंकि, वह जीव का स्वरूप नहीं है। यदि जीव का स्वरूप माना जाय तो क्षीणकर्मों अर्थात् कर्मरहित जीवों के भी दु:ख होना चाहिए, क्योंकि, ज्ञान और दर्शन के समान, कर्म के विनाश होने पर दु:ख का विनाश नहीं होगा। किन्तु सुख कर्म से नहीं होता है, क्योंकि वह जीव का स्वभाव है, और इसलिये वह कर्म का फल नहीं है। सुख को जीव का स्वभाव मानने पर सातावेदनीय कर्म का अभाव भी प्राप्त नहीं होता, क्योंकि, दु:ख-उपशमन के कारणभूत सुद्रव्यों के सम्पादन में सातावेदनीय कर्म का व्यापार होता है। इस व्यवस्था के मानने पर सातावेदनीय प्रकृति के पुद्गलविपाकित्व प्राप्त होगा, ऐसी भी आशंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि दु:ख के उपशम से उत्पन्न हुए, दु:ख के अविनाभावी उपचार से ही सुखसंज्ञा को प्राप्त और जीव से अपृथग्भूत ऐसे स्वास्थ्य के कण का हेतु होने से सूत्र में सातावेदनीय कर्म के जीवविपाकित्व का और सुख-हेतुत्व का उपदेश दिया गया है। यदि कहा जाय कि उपर्युक्त व्यवस्थानुसार तो सातावेदनीय कर्म के जीवविपाकीपना और पुद्गलविपाकीपना प्राप्त होता है, सो भी कोई दोष नहीं, क्योंकि, यह बात हमें इष्ट है। यदि कहा जाये कि उक्त प्रकार का उपदेश प्राप्त नहीं है, सो भी नहीं, क्योंकि, जीव का अस्तित्व अन्यथा बन नहीं सकता, इसलिये उस प्रकार के उपदेश के अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है। सुख और दु:ख के कारणभूत द्रव्यों का सम्पादन करनेवाला दूसरा कोई कर्म नहीं है; क्योंकि वैसा कोई कर्म पाया नहीं जाता।''

—इस अवतरण में विशेषता यह है कि आचार्यदेव ने सातावेदनीयकर्मप्रकृति का जीवविपाकीपना और पुद्गलविपाकीपना—इन दोनों को स्वीकार करके यह बात सिद्ध की है कि बाह्य में सुख के कारणभूत द्रव्यों का सम्पादन करने में सातावेदनीयकर्म ही निमित्तरूप है।

[यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि बाह्य सामग्री में कर्म को निमित्त कहा है, वह कहीं निमित्त की प्रधानता बतलाने के लिये नहीं कहा है, परन्तु मात्र यथार्थ निमित्त का ज्ञान कराया है; बाह्यवस्तु का जो संयोग-वियोग होता है, वह तो अपने-अपने उपादान की वैसी योग्यता से होता है।]

जि...न...शा...स...न...

जिनशासन को कब यथार्थ जाना कहा जाता है ?

जिनशासन अर्थात् क्या और जिनशासन को किसने जाना कहा जाता है—वह बात समयसार की पन्द्रहवीं गाथा में अद्‌भुत रीति से कही गई है; उसमें भरा हुआ जैनशासन का अतिशय महत्वपूर्ण रहस्य पूज्य स्वामीजी ने इस प्रवचन में स्पष्ट किया है। प्रत्येक जिज्ञासु और विद्वान को इस गाथा का रहस्य विचारने योग्य है।

शुद्ध आत्मा, वह जिनशासन है; इसलिये जो जीव अपने शुद्ध आत्मा को देखता है, वह समस्त जिनशासन को देखता है।—यह बात श्री आचार्यदेव समयसार की पन्द्रहवीं गाथा में कहते हैं:—

यः पश्यति आत्मानं, अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम्।
अपदेशसान्तमध्यं, पश्यति जिनशासनं सर्वम्॥१५॥

इस गाथा में आचार्यदेव ने जैनदर्शन का मर्म खोलकर रखा है। जो इन अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे पाँच भावोंरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है; जिसने ऐसे शुद्ध आत्मा को जाना उसने समस्त जिनशासन को जान लिया। समस्त जैनशासन का सार क्या ? —अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव करना। शुद्ध आत्मा के अनुभव से वीतरागता होती है और वही जैनधर्म है; जिससे राग की उत्पत्ति हो, वह जैनधर्म नहीं है। ''मैं बंधनवाला अशुद्ध हूँ''—इसप्रकार जो पर्यायदृष्टि से अपने आत्मा को अशुद्ध ही देखता है, उसके राग की उत्पत्ति होती है; और राग है, वह जैनशासन नहीं है; इसलिये जो अपने आत्मा को अशुद्धरूप ही देखता है परन्तु शुद्ध आत्मा को नहीं देखता, उसे जैनशासन की खबर नहीं है। आत्मा को कर्म के सम्बन्धयुक्त ही देखनेवाला जीव जैनशासन से बाहर है। जो जीव आत्मा को कर्म के सम्बन्धयुक्त ही देखता है, उसके वीतरागभावरूप जैनधर्म नहीं होता। अंतरस्वभाव की दृष्टि करके जो अपने आत्मा को शुद्धरूप जानता है, उसी के वीतरागभाव प्रगट होता है और वही जैनधर्म है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि जो जीव अपने आत्मा को कर्म के सम्बन्धरहित एकाकार विज्ञानघन स्वभावरूप देखता है, वह समस्त जैनशासन को देखता है।

देखो यह जैनशासन! लोग बाह्य में जैनशासन मान बैठे हैं, परन्तु जैनशासन तो आत्मा के शुद्ध स्वभाव में है। कई लोगों को ऐसी भ्रमणा है कि जैनधर्म तो कर्मप्रधान धर्म है; लेकिन यहाँ तो आचार्यदेव स्पष्ट कहते हैं कि आत्मा को कर्म के सम्बन्धयुक्त देखना, वह वास्तव में जैनशासन नहीं है परन्तु कर्म के सम्बन्ध से रहित शुद्ध देखना, वह जैनशासन है। जैनशासन कर्मप्रधान तो नहीं है, परन्तु कर्म के निमित्त से जीव की पर्याय में जो पुण्य-पापरूप विकार होता है, उस विकार की प्रधानता भी जैनशासन में नहीं है। जैनधर्म में तो ध्रुव-ज्ञायक पवित्र आत्मस्वभाव की ही प्रधानता है; उसकी प्रधानता में ही वीतरागता होती है। विकार की या पर की प्रधानता में वीतरागता नहीं होती, इसलिये उसकी प्रधानता, वह जैनधर्म नहीं है। जो जीव स्वोन्मुख होकर अपने ज्ञायक परमात्मतत्त्व को न समझे, उस जीव ने जैनधर्म प्राप्त नहीं किया है, और जिसने अपने ज्ञायक परमात्मतत्त्व को जाना है, वह समस्त जैनशासन के रहस्य को प्राप्त कर चुका है। अपने शुद्ध ज्ञायक परमात्मतत्त्व की अनुभूति, वह निश्चय से समग्र जिनशासन की अनुभूति है। कोई जीव भले ही जैनधर्म में कथित नवतत्त्वों को व्यवहार से मानता हो, भले ही ग्यारह अंगों का ज्ञाता हो, और भले ही जैनधर्म में कथित व्रतादि की क्रिया करता हो; परन्तु यदि वह अंतरंग में परद्रव्य और परभावों से रहित शुद्ध आत्मा को न जानता हो तो वह जैनशासन से बाहर है, उसने वास्तव में जैनशासन को नहीं जाना है।

'भावप्राभृत' में शिष्य पूछता है कि—जिनधर्म को उत्तम कहा, तो उस धर्म का स्वरूप क्या है? उसके उत्तर में आचार्यदेव धर्म का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि—

पूयादिसु वयसहियें पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८३॥

जिनशासन के सम्बन्ध में जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है कि—पूजादिक में तथा जो व्रतसहित हो, उसमें तो पुण्य है; और मोह-क्षोभरहित आत्मा के परिणाम, वह धर्म हैं।

कोई-कोई लौकिकजन तथा अन्यमती कहते हैं कि पूजादिक तथा व्रत-क्रियासहित हो वह जैनधर्म है; परन्तु ऐसा नहीं है। देखो, जो जीव व्रत-पूजादि के शुभराग को धर्म मानते हैं, उन्हें 'लौकिकजन' और 'अन्तमती' कहा है। जैनमत में जिनेश्वर भगवान ने व्रत-पूजादि के शुभभाव को धर्म नहीं कहा है; परन्तु आत्मा के वीतरागभाव को ही धर्म कहा है। वह वीतरागभाव कैसे होता है?—शुद्ध आत्मस्वभाव के अवलम्बन से ही वीतरागभाव होता है; इसलिये जो जीव शुद्ध आत्मा

को देखता है, वही जिनशासन को देखता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी शुद्ध आत्मा के अवलम्बन से ही प्रगट होते हैं, इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का समावेश भी शुद्ध आत्मा के सेवन में हो जाता है; और शुद्ध आत्मा के अनुभव से जो वीतरागभाव प्रगट हुआ, उसमें अहिंसाधर्म भी आ गया तथा उत्तमक्षमादि दस प्रकार के धर्म भी उसमें आ गये। इसप्रकार जिन-जिन प्रकारों से जैनधर्म का कथन है, उन सर्व प्रकारों का समावेश शुद्ध आत्मा के अनुभव में हो जाता है, इसलिये शुद्ध आत्मा की अनुभूति, वह समस्त जिनशासन की अनुभूति है।

अहो! इस एक गाथा में श्री कुंदकुंदाचार्यदेव ने जैनदर्शन का अलौकिक रहस्य भर दिया है; जैनशासन का मर्म क्या है—वह इस गाथा में बतलाया है।

आत्मा ज्ञानघनस्वभावी है; वह कर्म के सम्बन्ध से रहित है। ऐसे आत्मस्वभाव को दृष्टि में न लेकर कर्म के सम्बन्धवाली दृष्टि से आत्मा को लक्ष में लेना, सो रागबुद्धि है, उसमें राग की—अशुद्धता की उत्पत्ति होती है; इसलिये वह जैनशासन नहीं है। भले ही शुभ विकल्प हो और पुण्य बँधे, परन्तु वह जैनशासन नहीं है। आत्मा को असंयोगी शुद्ध ज्ञानघनस्वभावरूप से दृष्टि में लेना, सो वीतरागदृष्टि है और उस दृष्टि में वीतरागता की ही उत्पत्ति होती है; इसलिये वही जैनशासन है। जिससे राग की उत्पत्ति हो और संसार-परिभ्रमण हो, वह जैनशासन नहीं है; परन्तु जिसके अवलम्बन से वीतरागता की उत्पत्ति हो और भवभ्रमण मिटे, वह जैनशासन है।

आत्मा की वर्तमान पर्याय में अशुद्धता तथा कर्म का सम्बनध है; परन्तु उसके त्रिकाली सहजस्वभाव में अशुद्धता या कर्म का सम्बन्ध नहीं है; त्रिकाली सहजस्वभाव तो एकरूप विज्ञानघन है।—इसप्रकार आत्मा के दोनों पक्षों को जानकर, त्रिकाली स्वभाव की महिमा की ओर उन्मुख होकर आत्मा का शुद्धरूप से अनुभव करना, वह सच्चा अनेकान्त है और वही जैनशासन है। ऐसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

मैं विकारी और कर्म के सम्बन्धवाला हूँ—इसप्रकार पर्यायदृष्टि से लक्ष में लेना, वह तो राग की उत्पत्ति का कारण है; और यदि उसके आश्रय से लाभ माने तो मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है। इसलिये आत्मा को कर्म के सम्बन्धवाला और विकारी देखना, वह जैनशासन नहीं है। दूसरे प्रकार से कहा जाये तो आत्मा को पर्यायबुद्धि से ही देखनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि है। पर्याय में विकार होने पर भी उसे महत्व न देकर द्रव्यदृष्टि से शुद्ध आत्मा का अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन और जैनशासन है। अंतर में ज्ञानरूप भावश्रुत और बाह्य में भगवान की वाणीरूप द्रव्यश्रुत—उन सब का

सार यह है कि ज्ञान को अंतर-स्वभावोन्मुख करके आत्मा को शुद्ध अबद्धस्पृष्ट देखना चाहिए। जो ऐसे आत्मा को देखे, उसी ने जैनशासन को जाना है और उसी ने सर्व भावश्रुतज्ञान तथा द्रव्यश्रुतज्ञान को जाना है। भिन्न-भिन्न अनेक शास्त्रों में अनेक प्रकार की शैली से कथन किया हो; परन्तु उन सर्व शास्त्रों का मूल तात्पर्य तो पर्यायबुद्धि छुड़ाकर ऐसा शुद्ध आत्मा ही बतलाने का है। भगवान की वाणी के जितने कथन हैं, उन सबका सार यही है कि शुद्ध आत्मा को जानकर उसका आश्रय करो। जो जीव ऐसे शुद्ध आत्मा को न जाने, वह अन्य चाहे जितने शास्त्र जानता हो और व्रतादि का पालन करता हो, तथापि उसने जैनशासन को नहीं जाना है।

जैनशासन में कथित आत्मा जब विकाररहित और कर्म के सम्बन्धरहित है, तब फिर इस स्थूल शरीर के आकारवाला तो वह कहाँ से हो सकता है? जो ऐसे आत्मा को नहीं जानता और जड़-शरीर के आकार से आत्मा को पहिचानता है, उसने जैनशासन के आत्मा को नहीं जाना है। वास्तव में भगवान की वाणी कैसा आत्मा बतलाने में निमित्त है?—अबद्धस्पृष्ट एकरूप शुद्ध आत्मा को भगवान की वाणी बतलाती है; और जो ऐसे आत्मा को समझता है, वही जिनवाणी को यथार्थतया समझा है। जो ऐसे अबद्धस्पृष्ट भूतार्थ आत्मस्वभाव को न समझे, वह जिनवाणी को नहीं समझा है। कोई ऐसा कहे कि मैंने भगवान की वाणी को समझ लिया है परन्तु उसमें कथित भाव को (—अबद्धस्पृष्ट शुद्ध आत्मस्वभाव को) नहीं समझ पाया—तो आचार्यदेव कहते हैं कि वास्तव में वह जीव, भगवान की वाणी को भी नहीं समझा है और भगवान की वाणी के साथ धर्म का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध उसके प्रगट नहीं हुआ है। स्वयं अपने आत्मा में शुद्ध आत्मा के अनुभवरूप नैमित्तिकभाव प्रगट नहीं किया, उसको भगवान की वाणी धर्म का निमित्त भी नहीं हुई; इसलिये वह वास्तव में भगवान की वाणी को समझा ही नहीं है। भगवान की वाणी को समझ लिया—ऐसा कब कहा जाता है?—कि जैसा भगवान की वाणी में कहा है, वैसा भाव अपने में प्रगट करे, तभी वह भगवान की वाणी को समझा है और वही जिनशासन में आ गया है। जो जीव ऐसे आत्मा को न जाने, वह जैनशासन से बाहर है।

बाह्य में जड़ शरीर की क्रिया को आत्मा करता है और उसकी क्रिया से आत्मा को धर्म होता है—ऐसा जो देखता है (मानता है), उसे तो जैनशासन की गंध भी नहीं है। तथा कर्म के कारण आत्मा को विकार होता है या विकारभाव से आत्मा को धर्म होता है—यह बात भी जैनशासन में नहीं है। आत्मा शुद्ध विज्ञानघन है, वह बाह्य में शरीरादि की क्रिया नहीं करता; शरीर

की क्रिया से उसे धर्म नहीं होता; कर्म उसे विकार नहीं कराता और न शुभ-अशुभ विकारी भावों से उसे धर्म होता है। अपने शुद्ध विज्ञानघन स्वभाव के आश्रय से ही उसे वीतरागभावरूप धर्म होता है। जो जीव ऐसे शुद्ध आत्मा को अन्तर में नहीं देखता और कर्म के निमित्त से आत्मा की अवस्था में होनेवाले क्षणिक विकार जितना ही आत्मा को देखता है, वह भी जैनशासन को नहीं देखता; कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहित जो सहज एकरूप शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मा है, उसे जो जीव शुद्धनय से देखता है, उसी ने जैनशासन को देखा है और वही सर्व शास्त्रों के सार को समझा है।

(१) जैनशासन में कर्म के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान कराते हैं; परन्तु जीव को वहीं रोक रखने का उसका प्रयोजन नहीं है; वह तो उस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की दृष्टि छुड़ाकर असंयोगी आत्मस्वभाव की दृष्टि कराता है। इसलिये कहा है कि जो जीव, कर्म के सम्बन्धरहित आत्मा को देखता है, वह सर्व जिनशासन को देखता है।

(२) मनुष्य, देव, नारकी इत्यादि पर्यायों से देखने पर अन्य-अन्यपना होने पर भी, आत्मा को उसके ज्ञायकस्वभाव से एकाकार स्वरूप देखना ही जैनशासन का सार है। पर्यायदृष्टि से आत्मा में भिन्न-भिन्नपना होता अवश्य है, और शास्त्रों में उसका ज्ञान कराते हैं; परन्तु उस पर्याय जितना ही आत्मा बतलाने का जैनशासन का आशय नहीं है; किन्तु एकरूप ज्ञायक बिम्ब आत्मा को बतलाना ही शास्त्रों का सार है; तथा ऐसे आत्मा के अनुभव से ही सम्यग्ज्ञान होता है। जिसने ऐसे आत्मा का अनुभव किया, उसने द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप जैनशासन को जाना है।

(३) आत्मा की अवस्था में ज्ञान-दर्शन-वीर्य इत्यादि की न्यूनाधिकता होती है, परन्तु ध्रुवस्वभाव से देखने पर आत्मा हीनाधिकतारहित सदा एकरूप निश्चल है। पर्याय की हीनाधिकता के प्रकारों का शास्त्र ने ज्ञान कराया है; परंतु उसी में रोक रखने का शास्त्र का आशय नहीं है; क्योंकि पर्याय की अनेकता के आश्रय में रुकने से एकरूप शुद्ध आत्मा का स्वरूप अनुभव में नहीं आता। शास्त्रों का आशय तो पर्याय का—व्यवहार का आश्रय छुड़ाकर नियत-एकरूप ध्रुव आत्मस्वभाव का अवलम्बन कराने का है; उसी के अवलम्बन से मोक्षमार्ग की साधना होती है। ऐसे आत्मस्वभाव का अवलम्बन लेकर अनुभव करना, सो जैनशासन का अनुभव है। पर्याय के अनेक भेदों की दृष्टि छोड़कर अभेद दृष्टि से शुद्ध आत्मा का अनुभव करना—वह शास्त्रों का अभिप्राय है।

(४) भगवान के शास्त्रों में ज्ञान-दर्शन-चारित्र इत्यादि गुणभेद से आत्मा का कथन किया है; परन्तु वहाँ उन भेदों के विकल्प में जीव को रोक रखने का शास्त्रों का आशय नहीं है; भेद का अवलम्बन छुड़ाकर अभेद आत्मस्वभाव को बतलाना ही शास्त्रों का आशय है। भेद के आश्रय से तो राग की उत्पत्ति होती है और राग, वह जैनशासन नहीं है; इसलिये जो जीव भेद के लक्ष से होने वाले विकल्पों से लाभ मानकर उनके आश्रय में रुके और आत्मा के अभेद स्वभाव का आश्रय न करे, वह जैनशासन को नहीं जानता है। अनन्त गुणों से अभेद आत्मा में भेद का विकल्प छोड़कर, उसे अभेदस्वरूप से लक्ष में लेकर उसमें एकाग्र होने से निर्विकल्पता होती है; यही समस्त तीर्थंकरों की वाणी का सार है और यही जैनशासन है।

(५) आत्मा क्षणिक विकार से असंयुक्त है; उसकी अवस्था में क्षणिक रागादिभाव होते हैं; उन रागादिभावों का अनुभव करना, वह जैनशासन नहीं है। स्वभावदृष्टि से देखने पर आत्मा में विकार है ही नहीं। क्षणिक विकार से असंयुक्त ऐसे शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप से आत्मा का अनुभव करना ही अनंत सर्वज्ञ-अरिहंत परमात्माओं का हार्द और संतों का हृदय है; बारह अंग और चौदह पूर्व की रचना में जो कुछ कहा है, उसका सार यही है। निमित्त, राग या भेद के कथन भले हों, उनका ज्ञान भी भले हो; परन्तु उन्हें जानकर क्या किया जाये ?—तो कहते हैं कि अपने आत्मा का परद्रव्यों और परभावों से भिन्न अभेद ज्ञानस्वभावरूप से अनुभवन करो; ऐसे आत्मा के अनुभव से ही पर्याय में शुद्धता होती है। जो जीव इसप्रकार शुद्ध आत्मा को दृष्टि में लेकर उसका अनुभवन करे, वही सर्व संतों और शास्त्रों के रहस्य को समझा है।

देखो, यह शुद्ध आत्मा के अनुभव की वीतरागी कथा है! वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र के अतिरिक्त ऐसी कथा कौन सुना सकता है ?—जो जीव वीतरागी अनुभव की ऐसी कथा सुनने के लिये प्रेम से खड़ा है, उसे जैनशासन के देव-गुरु-शास्त्र पर श्रद्धा है और उनकी विनय तथा बहुमान का शुभराग भी है; परन्तु वह कहीं जैनदर्शन का सार नहीं है—वह तो बहिर्मुख रागभाव है। अंतर में स्वसन्मुख होकर, देव-गुरु-शास्त्र ने जैसा कहा है, वैसे आत्मा का रागरहित अनुभव करना ही जैनशासन का सार है।

देखो, यह अपूर्व कल्याण की बात है! यह कोई साधारण बात नहीं है। यह तो ऐसी बात है कि जिसे समझने से अनादिकालीन भवभ्रमण का अन्त आ जाता है। आत्मा की दरकार करके यह बात समझने योग्य है। बाह्य क्रिया से और पुण्यभाव से आत्मा को लाभ होता है—ऐसा मानने की

बात तो दूर रही; यहाँ तो कहते हैं कि हे जीव! तू उस बाह्यक्रिया को मत देख, पुण्य को मत देख, किन्तु अपने अन्तर में ज्ञानमूर्ति आत्मा को देख। 'पुण्य है सो मैं हूँ'—ऐसी दृष्टि छोड़कर 'मैं

अपूर्व कल्याण किसे प्रगट होता है ?

पर से मुझे लाभ होता है, मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, पर मेरे अधिकार में है;—ऐसी बुद्धि जबतक जीव को रहती है, तबतक उसके पर में इष्ट-अनिष्ट की मिथ्या-कल्पना दूर नहीं होती और अपने कल्याण में उसकी बुद्धि नहीं लगती। जो पर के कर्तृत्व का बोझा अपने सिर पर रखकर फिरता है, उसे अपने कल्याण का विचार करने का अवकाश कहाँ से मिलेगा ? इसलिये जिसे अपना कल्याण करने की भावना हो उसे, पर से मुझे लाभ-हानि होते हैं, या मैं पर का कुछ भला-बुरा कर सकता हूँ—ऐसी विपरीत मान्यता पर शून्य रखकर, पर से भिन्न निरालम्बी स्वाधीन आत्मस्वभाव को मानना ही पड़ेगा। अपने आत्मा को पर से पृथक् माने तो पर की ओर से विमुख होकर आत्मा के आश्रय से अपना कल्याण करे। आत्मा, पर का कुछ करता है, अथवा पर के कारण आत्मा का हित होता है—यह बात तो दूर रही... परन्तु... मन के अवलम्बन से जो शुभ विकल्प उठते हैं, उनसे भी आत्मा का धर्म या हित नहीं है; शुभ विकल्प भी आत्मा के गुणों के रोधक हैं। पुण्य-पापरूप विकार से आत्मा को सहायता मिलती है—ऐसा माननेवाले ने गुणों को और विकार को एकमेक माना है; विकार से भिन्न आत्मस्वभाव को उसने नहीं जाना है; इसलिये उसके कल्याण कहाँ से प्रगट होगा ? जिसमें से कल्याण प्रगट होता है, ऐसे आत्मा को जाने बिना कहाँ से कल्याण लायेगा ? जो पर से भिन्न और विकार से रहित स्वतंत्र निर्विकारी आत्मस्वभाव को जान ले उसी को उसमें एकाग्रता द्वारा अपूर्व आत्मकल्याण प्रगट होता है। *[—प्रवचन से]*

सच्चा जिज्ञासु

जो संसार परिभ्रमण से थक गया है और अन्य सब से उदासीन होकर एकमात्र शुद्ध आत्मा को पहिचानने की ही जिसे जिज्ञासा है—ऐसा शिष्य श्रीगुरु के चरणों में जाकर कहता है कि—हे प्रभो! अनादिकाल से मैं अपने आत्मा को अशुद्ध और संयोगवाला ही मानकर अभी तक संसार में भटका, किन्तु शुद्धनय से कभी मैंने अपने आत्मा को नहीं पहिचाना। अब शुद्धनयानुसार मुझे अपने आत्मा का स्वरूप जानने योग्य है, इसलिये हे गुरु! मुझे अपने शुद्ध आत्मा का स्वरूप बतलाओ—कि जिसका ज्ञान करने से सम्यग्दर्शन होकर मेरी मुक्ति हो और इस संसारपरिभ्रमण का अंत आये।

जिज्ञासु शिष्य को अपने शुद्ध आत्मा को जानने की ही प्रधानता है, दूसरे अप्रयोजनभूत विषय जानने का प्रयोजन नहीं है। ज्ञान के विकास से दूसरे अप्रयोजनभूत विषय ज्ञात हों तो उसका अभिमान नहीं है और ज्ञात न हों तो उसका खेद नहीं है, शुद्ध आत्मा को जानने की ही लालसा और उत्साह है।

[—प्रवचन से]

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	भजनमाला	
समयसार प्रवचन भाग २	५)	(अजमेर भजन-मण्डली की)	
समयसार प्रवचन भाग ३	४)	मूल में भूल	
समयसार (हिंदी)		मुक्ति का मार्ग	
(मूल संस्कृत टीका सहित)	१०)	अनुभवप्रकाश	
प्रवचनसार हिंदी		अष्टपाहुड़	३)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	चिद्विलास	१)
आत्मावलोकन	१)	दसलक्षणधर्म	)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१)	जैन बालपोथी	)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	सम्यक्दर्शन	२)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५)	स्तोत्रत्रयी	)
समयसार पद्यानुवाद	)	भेदविज्ञानसार	२)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	)	पंचमेरु पूजन	)
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)		
आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७ वर्ष	प्रत्येक का ३)		

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभ-विद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये—जमनादास माणेकचंद रवाणी